E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi, Assistant Professor, Department of Sanskrit, Dr. Shyama Prasad Mukherjee University, Ranchi

अनुबन्ध चतुष्टय- *ख) विषय*

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

वेदान्तसारकार ने अनुबन्ध चतुष्टय के अन्तर्गत 'अधिकारी' की विवेचना के पश्चात् द्वितीयस्थानीय 'विषय' पर अपना प्रकाश डाला है। 'विषय' पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं-

"विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्"।

अर्थात् जीव और ब्रह्म का ऐक्य जो शुद्ध चैतन्य रूप में प्रमेय है, वेदान्तशास्त्र का विषय है, क्योंकि उसी में सम्पूर्ण वेदान्तों का तात्पर्य है।

विषय के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का कहना है कि जीव और ब्रह्म की एकता ही वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय है। एकता का अर्थ है अभेद, वहीं वास्तव है, उनमें जो भेद प्रतीत होता है वह अज्ञानमूलक है और वह तभी तक प्रतीत होता है जब तक जीव के वास्तविक स्वरूप को हृदयंगम करने का, उसकी वास्तविकता को समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता।

देखने में ऐसा लगता है कि संसार बड़ा विशाल और विचित्र है, उसकी प्रायः सभी घटनायें सच्ची हैं, उनमें अनन्त प्राणियों का निवास है, सभी प्राणी एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न है और प्रत्येक प्राणी अपने अस्तित्व को बनाये रखने में अन्य प्राणियों का अपनी शक्ति और उपयोगिता के अनुसार यथेच्छ विनियोग करना चाहता है। पर मनुष्य को जब वेदान्तवेत्ता गुरु का सम्पर्क प्राप्त होता तब वह वेदान्तशास्त्र को समस्त प्रमाणों में मूर्धन्य बताकर उसके वचनों को साक्षी रूप में प्रस्तुत करते हुये बताता है कि यह सारा संसार, उसका सम्पूर्ण चमत्कार, उसकी समस्त घटनायें, उसके भीतर निवास करने वाले सभी प्राणी मूल तत्त्व का यथार्थ अवबोधन न होने से ही दीखे पड़ते हैं। वेदान्तसार की दृष्टि में मूल तत्त्व है- ब्रह्म (आत्मा)। उसे ब्रह्म कहने का आधार है उसका बृहत् और बृंहण होना। बृहत् का अर्थ है- बड़ा इतना बड़ा जो देश, काल और वस्तु की परिधि में न समा सके, जिसके बारे में यह न

कहा जा सके कि वह यहाँ है, वहाँ नहीं है, इस समय है, समयान्तर में नहीं है, वह यह वस्तु है, अन्य वस्तु नहीं है। उसके इस स्वरूप को वेदान्तवेत्ता विद्वान् उसे देश-काल-वस्तुभिः अनवच्छिन्न कहकर प्रकट करते है।

आत्मा ही जीवन-प्राण धारण करने से, सप्राण, सेन्द्रिय समनस्क शरीर में अधिष्ठित होने से जीव कहा जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जगत् का मूलतत्त्व ब्रह्म ही विभिन्न प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट होकर विभिन्न कार्यों को करने वाला जीव है। किन्तु मनुष्य माया-मोह से ग्रस्त होने के कारण इस रहस्य को नहीं जानता। वह अपने को जन्ममरणशील, अल्पज्ञ अल्पबल तथा अन्य पुरुषों से अत्यन्त भिन्न मानकर संसार के प्रवाह में प्रवाहित होने लगता है।

जब कोई मनुष्य पुण्यपुञ्ज के उदय से वेदान्तशास्त्र के सम्पर्क में आता है तब उसकी दृष्टि इस तथ्य की ओर आकृष्ट होती है। फलत : वह ब्रह्मनिष्ठ वेदान्तविद् गुरु की शरण में जाकर ब्रह्म से अपनी अभिन्नता का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता सदानन्द ने अपने ग्रन्थ का विषय बताते हुये यही बात कही है। जीव और ब्रह्म का अभेद ही इस राज्य का मुख्य प्रतिपाद्य है।

वेदान्त ने ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयम्', 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि वचनों के द्वारा सत्-त्रिकालाबाध्य, एकान्तनित्य, चित्-स्वप्रकाश चैतन्यरूप और आनन्दधन बताया है। किन्तु जीव अविद्या से ग्रस्त, शिक्षा के बिना जड़प्राय, जरामृत्यु से पीड़ित एवं संसार के विविध दुःखों से संत्रस्त है। अतः जीव और ब्रह्म में अभेद संभव न होने से उसे ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय बताना संगत नहीं। इस शंका के समाधानार्थ ग्रन्थकार ने दूसरे शब्द 'शुद्धचैतन्यम्' का प्रयोग किया है जिसका आशय है जीव और ब्रह्म का ऐक्य शुद्धचैतन्यरूप में है। चैतन्य बोध प्रकाश ही एकमात्र सत्यपदार्थ है जो सदा एकरूप रहता है, किसी भी दशा में विकृत अथवा परिवर्तित नहीं होता, वह अनादिकाल से अज्ञात है अविद्या ने उसके स्फुरण को रोक रखा है। अविद्या के कारण ही यह ईश्वर और जीव की भूमिका में उतरता है, किन्तु अविद्या अनादि होते हुये भी नश्वर है। उसके नश्वर होने से उसी के सम्बन्ध से अस्तित्व में आने वाला ईश्वरभाव और जीवभाव भी नश्वर है।

चैतन्य ही बृंहण- विश्व विस्तार का मूल होने के कारण ब्रह्म है। अतः शुद्ध चैतन्य रूप में जीव और ब्रह्म में ऐक्य है। जीव को यह हृदयंगम करना है कि उसका जीवन उसके अज्ञान से है, अतः उसे अपने अज्ञान को निरस्त कर ब्रह्म के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव करना है जिससे संसार की घटनायें उसे उद्विग्न न कर सके। वह जल में कमल-पत्र के समान संसार में निर्मित शुद्ध चैतन्य के रूप में रह सके-**"नलिनीदलम् अम्बुवत्"**।

शुद्ध का अर्थ है अविद्या तथा अविद्या के कार्यों से असम्पृक्त-अप्रभावित-अविकृत। यह शुद्ध चैतन्य ही प्रमेय-प्रमा का विषय है क्योंकि जो अर्थ अनधिगत और अबाधित होता है, वही प्रमा का विषय है। शुद्ध चैतन्य वेदान्त से भिन्न साधनों द्वारा अनधिगत-अज्ञात है और एकान्तनित्य होने से पूर्णतया अबाधित है। अतः वही प्रमेय है। अविद्यायुक्त चैतन्य प्रमेय नहीं हो सकता क्योंकि वह 'अहमज्ञः'- "मैं अज्ञानी हूँ"- इस अनुभव द्वारा अधिगत है तथा अविद्या का बाध होने पर बाधित होता है।

शुद्ध चैतन्य को प्रमेय कहने पर यह प्रश्न उठता है कि प्रमेय का अर्थ है प्रमा का विषय। चैतन्य प्रमा का विषय प्रमाकाल में ही हो सकता है और जब प्रमा होगी तब अविद्या का कार्य होने से अविद्यात्मक प्रमा से सम्बन्ध होने के कारण चैतन्य शुद्ध नहीं हो सकता। अतः शुद्ध चैतन्य को प्रमेय कैसे कहा जा सकता है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि शुद्ध का अर्थ है अखण्ड साक्षात्कार का विषय, न कि अविद्या और अविद्या के कार्यों से असम्बद्ध और साक्षात्कार की अखण्डता का अर्थ है अविद्या और आविद्यक पदार्थों को विषय न करना। शुद्ध शब्द के इस अर्थ को दृष्टि में रखने पर उक्त प्रश्न का अवसर नहीं रह जाता क्योंकि वेदान्त के 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से तत् त्वं आदि पदों की चैतन्य में लक्षणा द्वारा जो बोध उत्पन्न होता है, उसमें चैतन्य मात्र का ही मान होता है।

प्रश्न हो सकता है कि वेदान्त को छोड़कर शुद्ध चैतन्य के बोध का अन्य कोई साधन नहीं हैं और वेदान्त ऐसे सैकड़ों वाक्यों से भरा है जिनसे चैतन्य से भिन्न अनेक पदार्थों का बोध होता है तो फिर शुद्ध चैतन्य को प्रमेय कहना कैसे संगत हो सकता है। इस प्रश्न का समाधान करने की दृष्टि से ग्रन्थकार ने कहा है कि 'तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्'- सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य शुरु चैतन्य में

ही है। कहने का आशय यह है कि वेदान्तवाक्यों से आपाततः अन्य अनेक पदार्थों का ज्ञान भले हो पर उन पदार्थों के प्रतिपादन में उन वाक्यों का तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य शुद्ध चैतन्य में ही है और जिस अर्थ में शब्द का तात्पर्य होता है वही शब्द द्वारा प्रमेय होता है। सभी वेदान्त वचनों का तात्पर्य शुद्ध चैतन्य में ही है।